यशवंत देवराव देशमुख

विरूद्घ

वालचंद रामचंद कोठारी

[श्री हरिलाल कनिया सी. जे., दास और चंद्रशेखर अय्यर जे.]

परिसीमा अधिनियम (1908 का II), धारा 14(2), 18 अनुच्छेद 182 - सिविल प्रकिया संहिता (1908 का V), धारा 48 - डिक्री का निष्पादन- डिक्री से 12 साल बाद आवेदन और अंतिम आवेदन पर किये गये आदेश से 3 साल के बाद- निष्पादन को रोकने के लिए संपत्ति को धोखाधड़ी से छिपाना- आवेदन की पोषणीयता- परिसीमा- विशेष संपत्ति के खिलाफ धोखाधड़ी को रोकने के लिए निष्पादन- क्या अनुच्छेद 182 के तहत परिसीमा को बचाया जा सकता है- धारा 18 की प्रयोज्यता- निष्पादन से पहले अपर्याप्त न्यायशुल्क के भुगतान का निर्देश देनी वाली डिक्री- चाहे सशर्त डिक्री हो- परिसीमा का प्रारंभिक बिंदु- निर्णित ऋणी को दिवालिया घोषित करने के लिए कार्यवाही में लगा समय, क्या इसे अपवर्जित किया जाना चाहिए।

डिक्री के निष्पादन के लिए आवेदन डिक्री की तारीख से 12 साल की समाप्ति के बाद और निष्पादन के लिए पूर्ववर्ती अंतिम आवेदन पर अंतिम आदेश की तारीख से 3 साल की समाप्ति के बाद किया गया था। डिक्रीदार ने तर्क दिया कि निर्णित ऋणी ने धोखाधड़ी से एक अजनबी के नाम पर

एक व्यवसाय खरीदा था और बाद वाले के नाम पर उसी का संचालन किया था, ताकि व्यवसाय की संपत्तियों को डिक्रीदार द्वारा निष्पादन में आगे बढ़ने से रोका जा सके और इसलिए धारा 48 सिविल प्रक्रिया संहिता के तहत वह 12 वर्ष की समाप्ति के बाद भी आवेदन करने का हकदार था। उच्च न्यायालय ने पाया कि चूंकि डिक्रीदार को निर्णित ऋणी द्वारा की गई धोखाधड़ी से डिक्री को निष्पादित करने से रोका गया था, इसलिए आवेदन पत्र संहिता की धारा 48 के तहत वर्जित नहीं था, लेकिन चूंकि यह अंतिम आवेदन पर आदेश की तारीख से 3 साल से अधिक समय उपरान्त किया गया था, इसलिए इसे अनुच्छेद 182 परिसीमा अधिनियम के तहत वर्जित कर दिया गया था। डिक्रीदार ने सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अपील कर पहली बार यह तर्क देते हुए कथन किया कि धारा 48 सिविल प्रक्रिया संहिता के उद्देश्य के लिए धोखाधड़ी साबित हुई थी। परिसीमा अधिनियम की धारा 18 इस मामले में लागू थी और उनके आवेदन को अनुच्छेद 182 के तहत वर्जित नहीं किया गया था, क्योंकि यह उस तारीख के तीन साल के भीतर किया गया था, जब उसे धोखाधड़ी के बारे में पता चला था और इस सबंध में लागू होने वाला अनुच्छेद 181 था।

अभिनिर्धारित किया गया कि (i) यह प्रश्न कि क्या सिद्ध तथ्यों पर धारा 18 का मामले में लागू होना विधि का एक विशुद्ध प्रश्न था और डिक्रीदार सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रश्न उठाने का अधिकारी था, भले ही उसने इसे निचले न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया था; (ii) हालांकि धारा

48 सिविल प्रक्रिया संहिता और अनुच्छेद 181 और 182 परिसीमा अधिनियम में डिक्री के आवेदन करने की समयसीमा के बारे में बताती है और एक साथ पढ़ा जाना चाहिए, वे अपने क्षेत्र और उद्देश्य में अलग थे और तथ्य यह है कि आवेदन धारा 48 सिविल प्रक्रिया संहिता में वर्जित नहीं था, ने इस बात पर विचार करने की आवश्यकता को समाप्त नहीं किया कि क्या इसे अनुच्छेद 182 के तहत वर्जित किया गया था (iii) यह कि, जैसा कि निर्णित ऋणी द्वारा की गई धोखाधड़ी किसी भी तरह से डिक्रीदार से डिक्री के निष्पादन के लिए आवेदन करने के अपने अधिकार के ज्ञान को नहीं छिपाता था, लेकिन केवल उसे किसी विशेष संपत्ति के संबंध में उस अधिकार का प्रयोग करने से रोकता था। धारा 18 इस मामले में लागू नही होता था और इसलिए आवेदन को अनुच्छेद 182 परिसीमा अधिनियम के तहत वर्जित कर दिया गया था; (iv) यह तथ्य कि अनुच्छेद 182 में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था कि उन मामलों के लिए जहां निर्णितऋणी ने धोखाधड़ी की थी, जैसा कि हस्तगत मामले में रहा है, उस अनुच्छेद को अप्रभावी नहीं किया गया था और मामले को अनुच्छेद 181 एवं अनुच्छेद 182 के दायरे में नहीं लाया गया था एवं इसे धोखाधड़ी वाले मामलों से संबंधित धारा 18 में निहित सामान्य प्रावधानों के साथ पढ़ा जाना चाहिए।

यह भी अभिनिर्धारित किया गया,

(i) एक डिक्री, जिसमें यह प्रावधान किया गया है कि वादी को डिक्री को निष्पादित करने से पहले न्यायालय की फीस की कमी का भुगतान करना चाहिये, एक सशर्त डिक्री नहीं है और इस तरह की डिक्री के निष्पादन के लिए आवेदन करने का समय डिक्री की तारीख से है, न कि उस तारीख से, जब वादी न्यायालय फीस कमी का भुगतान करता है।

(ii) वह अवधि, जिसके दौरान डिक्रीदार निर्णित ऋणी को दिवालिया न्यायनिर्णित करने के लिए अभियोजन कार्यवाही की जाती है, को धारा 14(2) परिसीमा अधिनियम के तहत डिक्री को निष्पादित करने के लिए आवेदन करने के लिये परिसीमा अवधि की गणना से वर्जित नही किया जा सकता है।

बंबई उच्च न्यायालय के फैसले ने पुष्टि की।

अपीलीय क्षेत्राधिकारः सिविल अपील सं. 37/1950

बॉम्बे उच्च न्यायालय के फैसले के विरूद्घ अपील (चगला सी.जे. और दीक्षित जे.) की अपील संख्या 281 ऑफ 1947.

के. एस. कृष्णस्वामी अयंगर (उसके साथ के. नरसिम्हा अयंगर) अपीलार्थी के लिए।

एम. सी. सीतलवाड़, भारत के महान्यायवादी, (उनके साथ बी. सेन) प्रत्यर्थी के लिए।

1 दिसंबर 1950 को न्यायालय का निर्णय **जे. चंद्रशेखर अय्यर** द्वारा दिया गया था

-यह अपील बॉम्बे उच्च न्यायालय की अपील संख्या 281 ऑफ 1947 में की गई डिक्री के विरूद्घ की गई, जिसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि पूना में प्रथम श्रेणी अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय द्वारा 6 दिसंबर, 1932 को 1,24,215 रूपये व अन्य के लिये पारित की गई अंतिम डिक्री को निष्पादित करने के लिये एक निष्पादन आवेदन पत्र क्या परिसीमा द्वारा वर्जित था। डिक्री एक साझेदारी के विघटन और हिसाब के लिए एक वाद में तैयार की गई थी। निष्पादन का आवेदन पत्र 4 अक्टूबर 1946 को दायर किया गया था और उस तारीख को डिक्री के तहत देय राशि 2,30,986 रूपये व अन्य बकाया होना बताया था। प्रथम श्रेणी उप-न्यायाधीश, शोलापुर के न्यायालय में पिछला निष्पादन आवेदन संख्या 946 ऑफ 1940 दायर किया गया था, जिसमें डिक्री को निष्पादन के लिए 24 जून, 1940 को अंतरित किया गया था। इसे 9 सितंबर, 1940 को नही चलाये जाने के कारण खारिज कर दिया गया था।

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि वर्तमान आवेदन अंतिम डिक्री की तारीख से 12 साल के अंतराल के बाद और पिछले आवेदन पर अंतिम आदेश की तारीख से 3 साल के अंतराल के बाद दायर किया गया था। परिसीमा के वर्जन को पार करने के लिए, डिक्रीदार, जो हमारे सामने अपीलकर्ता है, ने चार दलीले उठायीः सबसे पहले, कि अंतिम डिक्री, जिसमें

प्रावधान किया गया है कि वादी डिक्री के निष्पादन से पहले डिक्री में वर्णित राशि पर न्यायालय फीस कमी का भुगतान करना चाहिए, एक सशर्त डिक्री थी, और वह समय भुगतान द्वारा 5 दिसंबर, 1935 को शर्त पूर्ण होने की तिथि से चलना शुरू हो गया था; दूसरा, कि 10 अगस्त, 1937 से 14 दिसंबर, 1942 तक दिवालिया कार्यवाही में व्यतीत की गई अवधि, जो डिक्रीदार द्वारा पहले निर्णय ऋणी वालचंद रामचंद कोठारी (जिनके साथ अब हम अकेले संबंधित हैं) को दिवालिया घोषित प्राप्त करने के लिए शुरू की गई थी, जिसे परिसीमा अधिनियम की धारा 14(2) के तहत अपवर्जित किया जाना चाहिए; तीसरा, कि तेंदुलकर, जो वर्तमान डिक्रीदार का ऋणदाता था, द्वारा इस डिक्री को निष्पादित करने की अवधि में कटौती की जानी चाहिए; और अंत में, जैसा कि निर्णितऋणी ने 'प्रभात' समाचार पत्र के खिलाफ डिक्री के निष्पादन को उसके स्वामित्व को दबाकर रोका, डिक्रीदार के पक्ष में धोखाधड़ी की जानकारी की तारीख से परिसीमा का एक नया प्रारंभिक बिंदु सामने आता है।

अधीनस्थ न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि निष्पादन आवेदन वर्जित नही था, जो इन सभी दलीलों से सहमत था। उच्च न्यायालय में अपील पर चागला सी. जे. और दीक्षित जे. ने इस निर्णय को पलटते हुए कहा कि यह एक सशर्त डिक्री नहीं थी कि तेंदुलकर द्वारा इस डिक्री को निष्पादित करने के लिए उठाए गए कदमों का कोई फायदा नहीं था और दिवालिया कार्यवाही पूरी तरह से अलग राहत के लिए थी, जिससे धारा

14(2) परिसीमा अधिनियम को लागू नहीं किया जा सकता था। वे अधीनस्थ न्यायाधीश के निष्कर्ष के साथ सहमत हुए कि निर्णित ऋणी द्वारा 'प्रभात' समाचार पत्र के अपने स्वामित्व को 12 वर्षों तक धोखाधड़ी से छिपाकर डिक्री के निष्पादन को रोक दिया था और वह बारह वर्ष की परिसीमा लागू नहीं होती थी; लेकिन यह अभिनिर्धारित किया कि परिसीमा अधिनियम के तहत तीन साल से अधिक समय तक, जो कि पूर्व निष्पादन आवेदन की तिथि 9 सितंबर, 1940 से माना जायेगा, जो वर्तमान से पहले आवेदन 4 अक्टूबर, 1946 को दायर किया गया था, ऐसा आवेदन अनुच्छेद 182 के तहत वर्जित था।

ऊपर उल्लेखित बिंदु 1 से 3 का कोई लाभ अपीलार्थी को नहीं है। डिक्री एक प्रकार से सशर्त नही थी कि कुछ बाहरी घटना होने वाली थी, जिसकी पूर्ति पर ही इसे निष्पादित किया जा सकता है। देय राशि पर न्यायालय शुल्क का भुगतान किया जाना पूरी तरह से डिक्रीदार की शक्ति में था और वहाँ तब उसे इसका भुगतान करने से रोकने वाली कोई बात नहीं थी। यह एक डिक्री थी जो पारित होने की तिथि से ही निष्पादन योग्य थी। दिवालियेपन की कार्यवाही में लगने वाला समय, जो स्पष्ट रूप से वही अनुतोष प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं था, का कोई अपवर्जन नहीं हो सकता था। जो अनुतोष दिवालिया कार्यवाही में चाहा गया था, वह जाहिर है कि निष्पादन आवेदन में चाहे गये अनुतोष से भिन्न था। पूर्व में, लेनदारों के लाभ के लिए ऋणी में निहित उसकी संपत्ति और इसका

प्रशासन जैसा भी मामला हो, आधिकारिक रिसीवर या आधिकारिक समनुदेशी में निहित होने के लिये एक ऋणी को प्रारंभिक रूप से दिवालिया न्यायनिर्णित करने की मांग की जाती है, लेकिन बाद में, केवल डिक्रीदार काे देय राशि का लाभ के लिए कुर्की जैसी प्रक्रियाओं द्वारा संपत्ति और व्यक्ति की गिरफ्तारी द्वारा प्राप्त करने की मांग की जाती है। हो सकता है कि अंततः दिवाला कार्यवाही में डिक्रीधारक अपने ऋण को पूरी तरह से या आंशिक रूप से चुकाने में सक्षम हो सकता है, लेकिन यह केवल एक नतीजा या परिणाम है। सिर्फ इतना ही नहीं दोनों कार्यवाहियों में एक अलग प्रकृति की राहत है, लेकिन प्रक्रिया भी व्यापक रूप से भिन्न है।

अपीलार्थी के लेनदार तेंदुलकर द्वारा डिक्री की कुर्की व इसे निष्पादित करने के लिए उठाये गये कदम परिसीमा को बचा नही सकते है। उसकी *दरख्वास्त* वर्तमान डिक्री की कुर्की के लिये 3 अप्रैल, 1940 को थी और निष्पादन के लिए वर्तमान डिक्री की तारीख 1 फरवरी, 1944 थी, जो कि 9 सितंबर, 1940 से 3 साल से अधिक थी, जो अपीलार्थी की पूर्व निष्पादन याचिका की खारिजी की तारीख थी।

इसलिए अपीलार्थी के लिए विद्वान अधिवक्ता ने अपना अधिकांश तर्क उपर बताये गये चौथे विवाद को समर्पित कर दिया। यह कि निर्णय ऋणी-प्रत्यर्थी ने अपने 'प्रभात' अखबार के स्वामित्व को दबा दिया और धोखाधड़ी से इस संपत्ति के खिलाफ डिक्री के निष्पादन को रोका जाना निचले दोनो न्यायालयो द्वारा पाया गया, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

यह जोरदार रूप से आग्रह किया कि इस प्रकार पाई गई धोखाधड़ी केवल धोखाधड़ी नहीं है, जैसा कि सिविल प्रक्रिया की धारा 48(2) के तहत व्यापक रूप से निर्वचन किया गया है, किन्तु परिसीमा अधिनियम की धारा 18 के अर्थ इसके भीतर सख्त या छिपी हुई धोखाधड़ी भी है। इस संबंध में, निर्णित ऋणी द्वारा छिपाने की प्रकृति निर्धारित करने और उसे प्राप्त करने के लिए उठाए गए कदम बहुत संक्षेप में है। उसने 'प्रभात' अखबार को सभी संपत्तियों और गुडविल के साथ इसके पूर्व मालिक पुरूषोत्तम महादेव से 1938 में प्रदर्श-129 अंकित किये गये पत्र से खरीद लिया। उन्होंने कई बैंकों में चालू खाते खोले और पत्र के मालिक के रूप में एक अभ्यंकर का नाम दिया, लेकिन वह खुद उन खातों को संचालित कर रहा था। एक राजवाड़े, जो निर्णित ऋणी का मित्र था, जिसे अखबार के मुद्रक और प्रकाशक के रूप में दिखाया गया था। यहां तक कि न्यायालय में वर्तमान निष्पादन के जवाब में दायर उसके अनुपूरक जवाबदावे, जो प्रदर्श-88 (मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ 53) के रूप में पेश किया गया था, प्रत्यर्थी ने पैराग्राफ 2 में यह दावा किया है कि वह केवल अप्रैल, 1944 में समाचार पेपर का मालिक बन गया और उससे पहले उनके पास कोई स्वामित्व या अधिकार नहीं था। इस आरोप का खंडन करने के लिए कि वह 1938 में समाचार पत्र की खरीद के बाद से मालिक था और कि उसने अन्य लोगों के नाम पर खाते खोले, जिसे वह अपने फायदे के लिए संचालित कर रहा था, वह साक्षी कटघरे के अंदर नहीं गया था। इन तथ्यो पर अधीनस्थ

न्यायाधीश ने निम्नानुसार पाया कि "मैं समग्र रूप से सोचता हूं कि निर्णित ऋणी ने उनकी स्वामित्व रुचि 'प्रभात' नामक अपने समाचार पत्र में जून, 1938 से अप्रैल, 1944 तक छिपाया था, यह सन्देह से परे सबूत स्थापित करते हैं। जिस उद्देश्य के लिए संपत्ति को इस तरह से छुपाया गया था, वह शायद यह डर था कि यदि डिक्रीदार को इसके बारे में पता चला तो वह उस पर प्रहार कर देगा। डिक्रीदार को इस धोखाधड़ी के बारे में अप्रैल, 1944 के बाद पता चला; इसके बाद निर्णित ऋणी ने एक खुली घोषणा की कि अखबार उसका है। इसलिए मुझे लगता है कि इस धोखाधड़ी ने डिक्रीदार को निर्णितऋणी की कुछ संपत्ति के खिलाफ डिक्री को निष्पादित करने से रोक दिया है। इस निष्कर्ष में, उच्च न्यायालय ने सहमति व्यक्त की। भागु जेठा बनाम मलिक बावासाहेब में निर्णित ऋणी द्वारा अपनाई गई रणनीति का उल्लेख करने के बाद विद्वान न्यायाधीशों ने कहाः

> ''इस मामले में, हमारी राय में, रणनीति बहुत अधिक बेईमान है। निर्णित ऋणी की ओर से अपनी संपत्ति को छिपाने का प्रयास किया गया था, ताकि उसके स्वामित्व से इनकार किया जा सके और केवल एक बेनामीदार को उसकी संपत्ति के वास्तविक स्वामी के रूप में रखा जा सके। हमारी राय में इसलिये धारा 48 के तहत डिक्री का निष्पादन वर्जित नही था। निर्णित ऋणी के द्वारा धोखाधड़ी से 12

वर्षों के भीतर डिक्री के निष्पादन को रोका गया था और डिक्रीदार द्वारा निष्पादन के लिए आवेदन की तारीख से पहले इसलिए विचाराधीन डिक्री निष्पादित होने योग्य है।"

इस समवर्ती निष्कर्ष के बल पर अपीलार्थी की ओर से श्री कृष्णास्वामी अयंगर ने तर्क दिया कि धोखाधड़ी धारा 18 परिसीमा अधिनियम के दायरे में आती है और यदि ऐसा था, तो वह बाहर था, यधपि लागू करने के लिए उचित अनुच्छेद परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 181 होगा। जून, 1946 में या उसके आसपास धोखाधड़ी का पता चलने पर उसे आवेदन करने का अधिकार प्राप्त हुआ था, तब तक उसे धोखाधड़ी से संपत्ति के खिलाफ आवेदन करने के अपने अधिकार के ज्ञान से रखा गया था। विधि के तहत उसके लिये आवश्यक नहीं है कि वह इस धोखे के लिये निष्पादन में व्यर्थ क्रमिक आवेदन करे। वह इस स्थिति में भी नही था कि वह यहाॅ तक की निर्णित ऋणी की गिरफ्तारी की भी मांग करें, जबकि उसने दिवाला कार्यवाही में खुद को डेक्कन कृषक राहत अधिनियम में एक "कृषक" घोषित किया था, यह झूठा आरोप लगाते हुए कि उन्हें संबंधित समाचार पत्र से वेतन या पारिश्रमिक के रूप में कोई आय नहीं मिल रही थी और वह अपने रखरखाव के लिए मुख्य रूप से अपने परिवार की भूमि की आय पर निर्भर थे।

इस बात पर कोई संदेह नहीं हो सकता है कि प्रतिवादी का आचरण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48(2) के अर्थ के भीतर धोखाधड़ी थी,

यद्यपि बेनामी लेनदेन इस देश में आम है और इसमें कुछ भी गलत नहीं है कि निर्णित ऋणी किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर संपत्ति खरीदता है, हमें यह पता लगाने के लिए खरीद में शामिल होने वाली सभी परिस्थितियों और उसके बाद के आचरण को ध्यान में रखना होगा क्या यह डिक्रीदार को अपने डिक्री के फल का एहसास होने से रोकने के लिए उसकी ओर से एक धोखाधड़ी योजना का हिस्सा था। धोखाधड़ी का मकसद या योजना ज्यादातर मामलों में प्रत्यक्ष प्रमाण देने में सक्षम नहीं है; इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे सामने मौजूद तथ्य से इस बात में कोई संदेह नहीं छोड़ते हैं कि निर्णित ऋणी का वास्तविक उद्देश्य प्रभात समाचार पत्र के खिलाफ डिक्री के निष्पादन को रोकना था, जिसकाे उसने खरीदा था। अन्य व्यक्तियों को समाचार पत्र के मुद्रक और प्रकाशक के रूप में दिखाया गया था, जबकि अभ्यंकर को मालिक के रूप में उल्लेख किया गया था। हालाँकि, निर्णितऋणी अपने स्वयं के लाभ के लिए उन खातों का संचालन कर रहा था। दिवाला न्यायालय में, उन्होंने यह याचिका दायर की कि वह एक कृषक थे, जो समाचार पत्र के अपने स्वामित्व के बारे में सच्चाई को दबाकर और यह नाटक करते हुए कि उनकी आय मुख्य रूप से, केवल मात्र नहीं, तो पारिवारिक भूमि से थी। उन्होंने इस नाटक को अप्रैल 1944 तक जारी रखा, जब शायद उन्हें लगा कि वे डिक्रीदार की पहुंच से सुरक्षित हैं। यहां तक कि निष्पादन आवेदन के अपने जवाब में, जिसमें से यह अपील उत्पन्न हुई है, उन्हें यह दावा करने में

कठिनाई हुई कि वे अप्रैल 1944 तक अखबार के मालिक नहीं थे। यह भी याद रखना चाहिए कि वह गवाह के कठघरे में यह समझाने के लिए नहीं गया था कि इस सभी छलावरण के लिए और क्या आवश्यकता थी, सिवाय इसके कि डिक्री के तहत अपीलार्थी को उसके बकाया के बारे में धोखा दिया जाए।

प्रत्यर्थी की ओर से पेश हुए विद्वान महान्यायवादी श्री सीतलवाड़ ने बताया कि यह कोई बेनामी खरीद नहीं थी और यह कि प्रभात के मालिक के रूप में अभ्यंकर की पकड़ डिक्रीदार के लिए कोई गलत अभ्यावेदन या गलत प्रस्तुति नहीं थी, क्योंकि जिन खातों पर निर्भरता रखी गई थी, वे बैंकों में खोले गए खाते थे और आम तौर पर तीसरे पक्ष द्वारा निरीक्षण के लिए उपलब्ध नहीं थे। जब हमें इस बात पर विचार करना पड़ता है कि क्या निर्णय के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है-देनदार उस डिक्री के निष्पादन को रोकने के लिए एक धोखाधड़ी योजना या उपकरण के बराबर नहीं है जो उसके खिलाफ बहुत बड़ी राशि के लिये पारित किया गया था। चीज़ों की प्रकृति में, धोखाधड़ी अपनी उत्पत्ति या शुरुआत में गुप्त है और इसका अर्थ है इसकी सफलता के लिए अपनाया गया। प्रत्येक परिस्थिति का अपने आप में बहुत अधिक अर्थ नहीं हो सकता है, लेकिन उन सभी को एक साथ लेने से वे एक धोखाधड़ी या बेईमान योजना को प्रकट कर सकते हैं।

यहाँ सुविधाजनक होगा कि इससे पहले कि हम दोनों पक्षों द्वारा अपने द्वारा उठाए गए रुख के समर्थन में दिए गए तर्कों की दृढ़ता पर विचार करने के लिए आगे बढ़ें, पहले सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 और परिसीमा अधिनियम की धारा 18 पर विस्तार से देखे।

धारा 48, सिविल प्रक्रिया संहिता (जो 1882 की संहिता की धारा 230 के अनुरूप है) इन शब्दों में हैः-

"48.(1) जहाँ एक डिक्री निष्पादित करने के लिए एक आवेदन, जो निषेधाज्ञा देने वाली डिक्री नहीं होने के कारण, 12 वर्ष की समाप्ति के बाद प्रस्तुत किए गए किसी भी नए आवेदन पर उसी डिक्री के निष्पादन के लिए कोई आदेश नहीं दिया जाएगा।

(क) निष्पादित किए जाने की इच्छा रखने वाली डिक्री की तारीख, या,

(ख) जहां डिक्री या कोई पश्चातवृती आदेश निर्देशित करता है कि धन का कोई भुगतान या किसी संपत्ति का परिदान एक निश्चित तिथि पर या आवर्ती अवधि में किया जाये, भुगतान करने में चूक की तारीख या परिदान, जिसके संबंध में आवेदक चाहता है कि डिक्री को निष्पादित करें।

(2) इस धारा में नहीं माना जाएगा कि-

(क) न्यायालय को एक आवेदन पर एक डिक्री का बारह वर्ष की उक्त अवधि की समाप्ति के बाद प्रस्तुत निष्पादन का आदेश देने से रोकने

पर, जहाँ निर्णित ऋणी ने धोखाधड़ी या बल द्वारा आवेदन की तारीख से तुरंत पहले बारह वर्षों के भीतर किसी समय डिक्री के निष्पादन को रोक दिया है; या

(बी) भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 की पहली अनुसूची के अनुच्छेद 183 के संचालन को सीमित या अन्यथा प्रभावित करना''

भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 की धारा 18 इस प्रकार हैः-

"18. जहाँ किसी व्यक्ति को मुकदमा दायर करने या आवेदन करने का अधिकार है, वहाॅ धोखाधड़ी के माध्यम से, ऐसे अधिकार या शीर्षक के ज्ञान से दूर रखा गया है, जिस पर यह स्थापित किया गया है, या जहां ऐसा स्थापित करने के लिए कोई दस्तावेज आवश्यक है, अधिकार छलपूर्वक उससे छिपा दिया गया है, वहाॅ वाद लाने या आवेदन करने के लिये सीमित समय--

(क) धोखाधड़ी या उसके सहायक के दोषी व्यक्ति के विरुद्ध, या

(ख) उसके माध्यम से दावा करने वाले किसी भी व्यक्ति के खिलाफ, सद्भावना और मूल्यवान विचार वाले से भिन्न, समय से गणना तब से की जायेगी, जब से उस व्यक्ति को धोखाधड़ी का पहले पता चला, जो इससे बुरी तरह प्रभावित हुआ, या छिपे हुए दस्तावेज़ के मामले में जब उसके पास पहली बार इसे पेश करने के साधन थे या इसे पेश करने के लिये विवश किया था।

क्या निर्णीतऋणी की धोखाधड़ी वास्तव में डिक्री के निष्पादन को रोकना था या क्या यह पर्याप्त है, यदि धोखाधड़ी वास्तविक रोकथाम के परिणामस्वरूप किए बिना की गई है, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर तय किए गए मामलों में कुछ मतभेद रहा है। पहला दृष्टिकोण मद्रास के प्रारंभिक मामले *कन्नू पिल्लै बनाम चेल्लाथमल और अन्य* में लिया गया था और श्री राजा वेंकट लिंगमा नयानिम बहादुर वरु और अन्य बनाम राजा इनुगंती राजा गोपाल वेंकट नरसिम्हा रायनिम बहादुर वरु और पाँच अन्य में बताए गए निर्णय से समर्थन प्राप्त करते हैं, जिनमें हमारे विद्वान भाई न्यायमूर्ति श्री पतंजलि शास्त्री पक्षकार थे। बाद का दृष्टिकोण *एम. आर. एम. ए. एस. पी. रामनाथन चेट्टियार बनाम महालिंगम चेट्टी* में एक पीठ जिसके सर माधवन नायर जे. एक सदस्य थे, इंगित किया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि यह निर्धारित करने के लिए कि कौन सा दृष्टिकोण सही है, जैसा कि हमारे यहाँ नीचे दिए गए दोनों न्यायालयों के निश्चित निष्कर्ष कि सिविल प्रक्रिया की धारा 48 के अर्थ के भीतर धोखाधड़ी आदेश के निष्पादन को रोक रही थी।

इस प्रकार अपीलार्थी 12 वर्ष की अवधि के वर्जन से बच जाता है एवं उसके पास सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 के लिए धोखाधड़ी की तारीख से परिसीमा का एक नया प्रारंभिक बिंदु होता है। दूसरे शब्दों में, डिक्री धारक के पास एक और 12 वर्ष का समय रहता है, जिसमें वह अपनी डिक्री निष्पादित करवा सकता है।

इस प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 के अन्तर्गत अपने रास्ते में आने वाली कठिनाई से उबरने के बाद, उसके पास आगे परिसीमा अधिनियम के तहत आपत्ति को पूरा करना है। अपीलार्थी की ओर से यह तर्क दिया गया था कि धारा 18 परिसीमा अधिनियम तथ्यो पर लागू होता है एवं अपीलार्थी को अधिकार तब प्राप्त हुआ, जब निर्णित ऋणी द्वारा 1946 में किये गये धोखे का ज्ञान हुआ। निचले न्यायालयों में परिसीमा अधिनियम की धारा 18 कोई निर्भरता नहीं रखी गई थी और अपील के आधार पर इसका कोई संदर्भ नहीं मिलता है। हालाँकि इसका उल्लेख मामले के अपीलार्थी के बयान के समय किया गया है। यदि सिद्ध और स्थापित पाए गए तथ्य धारा 18 के अर्थो के भीतर धोखाधड़ी का मामला बनाने के लिये पर्याप्त हैं। यह आपत्ति गंभीर नहीं हो सकती है, क्योंकि धारा की प्रयोज्यता का प्रश्न केवल विधि का प्रश्न होगा और ऐसा प्रश्न प्रकरण में किसी भी स्तर पर उठाया जा सकता है एवं यह अपील के अंतिम न्यायालय में भी उठाया जा सकता है। लार्ड वाॅटसन की निम्नलिखित टिप्पणियाँ *कनेक्टिकट फायर इंश्योरेंस कंपनी बनाम कवनाघ* प्रासंगिक हैं। उन्होंने कहाः ''जब पहली बार किसी अदालत में विधि का प्रश्न उठाया जाकर किसी दस्तावेज़ के निर्माण या उन तथ्यो पर जो स्वीकृत है या बिना विवाद के साबित किये गये है, यह न केवल सक्षम है बल्कि न्याय के हितों में समीचीन भी है कि ऐसे तर्क को अनुमत किया जाये। उस मार्ग को अपनाने पर संदेह हो सकता है, जब तथ्य के अच्छे

प्रश्नों का निर्णय किए बिना याचिका का निपटारा नहीं किया जा सकता है, जिस पर विचार करते हुए अंतिम समीक्षा अदालत को नीचे की अदालतों की तुलना में बहुत कम लाभप्रद स्थिति में रखा गया है। तथापि, श्री सीतलवाड़ ने आग्रह किया कि अपीलार्थी को अब पहली बार धारा 18 पर भरोसा करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए और यह कि भले ही उस धारा के अर्थ के भीतर धोखाधड़ी का अनुरोध किया गया हो, प्रत्यर्थी ने स्वयं गवाह कक्ष में जाकर या अन्यथा जवाबी साक्ष्य प्रस्तुत किया होगा। उनके अनुसार, धारा 18 परिसीमा अधिनियम के तहत धोखाधड़ी के प्रश्न पर दृष्टिकोण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 के तहत दृष्टिकोण से काफी अलग है। ऐसे मामले हो सकते हैं, जहां धोखाधड़ी का आरोप लगाया गया है और पाया गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48(2) के व्यापक अर्थ में धोखाधड़ी हो, लेकिन वही तथ्य परिसीमा अधिनियम की धारा 18 में कठोरता से धोखाधड़ी के अर्थ के बराबर नहीं हैं। यह तथ्य कि निचली अदालतों में डिक्रीदार ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 पर भरोसा किया था, केवल उसे परिसीमा अधिनियम की धारा 18 पर भरोसा करने से नहीं रोकता है, यदि परिसीमा अधिनियम की धारा 18 की सहायता लाने के लिए आवश्यक तथ्यों को स्वीकार किया जाता है या साबित किया जाता है। यह विवादित नहीं है कि परिसीमा की धारा 18 द्वारा धोखाधड़ी पर विचार किया गया है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48(2) द्वारा अनुध्यात धोखाधड़ी से एक अलग प्रकार का है। धारा 18 का

शब्दांकन, जिसमें आवेदन करने के अधिकार के बारे में पहले से जानकारी देने के लिए धोखाधड़ी की आवश्यकता होती है, अनिवार्य रूप से धोखाधड़ी से अलग प्रकृति का है, जो डिक्री धारक को निष्पादन के लिए आवेदन करने से रोकता है।

अपीलार्थी को इस अंतिम चरण में भी परिसीमा अधिनियम की धारा 18 पर भरोसा करने के अधिकार को स्वीकार करते हुए, आइए देखें कि क्या यह वास्तव में पाए गए तथ्यों पर उसकी कोई मदद करता है। इस खंड को पहले ही उद्धृत किया जा चुका है। यह.एक मुकदमा दायर करने या एक आवेदन करने के अधिकार की बात करता है, जिसे धोखाधड़ी के माध्यम से उस व्यक्ति के ज्ञान से दूर रखा गया है, जिसके पास अधिकार या स्वामित्व है, जिस पर यह दायर किया गया है। एक डिक्री का निष्पादन आवेदन करने का अधिकार जैसा कि हमारे सामने है, एक एकल और अविभाज्य अधिकार है और एक समग्र अधिकार नहीं है, ये विभिन्न छोटे अधिकारों से युक्त और इसके आधार पर डिक्रीदार के निर्णित ऋणी के व्यक्ति या उसकी संपत्तियाँ, चल और अचल के खिलाफ कार्रवाई करने के लिए उपाय है। ऐसा अर्थ देने के लिए एकल अधिकार को टुकडो में विभाजित करना और डिक्रीदार को सक्षम करना होगा कि जबकि उसका अधिकार संपत्ति की किसी विशेष वस्तु के विरुद्ध कार्यवाही को वर्जित किया गया है, यह अन्य वस्तुओं के संबंध में वर्जित नहीं होगा, तब हम एक ही समान डिक्री के संबंध में परिसीमा की अलग-अलग अवधियों का

सामना करेंगे । व्याख्या जो इस परिणाम की ओर ले जाती है, वह प्रथमदृष्टया अनुचित लगता है। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि यह सही स्थिति है, लेकिन वे इसे थोड़ा अलग दृष्टिकोण से पहुंचे। अपीलार्थी के अनुसार, यहां तक कि एक संपत्ति के संदर्भ में धोखाधड़ी उसे पूरी डिक्री के लिये धारा 48(2) के तहत 12 साल का एक और विस्तार देता है एवं उसे यह दिखाने के लिए आवश्यक नही था कि वह निर्णित ऋणी की अन्य सम्पत्तियो के खिलाफ आगे बढ़ा था। प्रत्यर्थी के अनुसार डिक्रीधारक के डिक्री के निष्पादन के लिए आवेदन करने के अधिकार की जानकारी को धोखाधड़ी से छिपाना शामिल होना चाहिए और यह पर्याप्त नहीं है कि साबित करें या स्थापित करें कि धोखाधड़ी ने उसे किसी विशिष्ट वस्तु के विरुद्ध कार्यवाही करने से रोका। यह दोनों इन के बारे में एक ही निष्कर्ष पर ले जाते हैं डिक्री की विभाज्यता, लेकिन अलग-अलग रेखाओं के साथ।

हमारी राय में, परिसीमा अधिनियम की धारा 18 में धोखाधड़ी स्थापित करने के लिए आवश्यक तथ्य वर्तमान मामले में ना तो स्वीकार किये गये और न ही साबित किये गये। किसी व्यक्ति से उसके एक डिक्री का निष्पादन आवेदन करने के अधिकार का ज्ञान छुपाना निस्संदेह उसे अपने अधिकार का प्रयोग करने से रोकना, जिसका उसे ज्ञान है, अलग है। परिसीमा अधिनियम की धारा 18 पूर्व विकल्प को अभिनिर्धारित करता है। इसे पढ़ने के लिए निष्पादन के लिए एक आवेदन का उल्लेख किसी विशेष संपत्ति के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए करना डिक्री के लिये विनाशकारी

होगा और यह विभिन्न परिसीमा अवधियो की ओर ले जाएगी। यह सत्य है कि परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 181 और 182 और धारा 48 सिविल प्रक्रिया संहिता को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए। लेख स्पष्ट रूप से प्रावधान का उल्लेख करते हैं, लेकिन वे स्वतंत्र या समानांतर प्रावधान हैं, जो अपने दायरे और उद्देश्य में अलग हैं, जैसा कि *कल्याणसुंदरम पिल्लई बनाम वैथिलिंगा वन्नियार* (1) आई.एल.आर.1939 मद्रास 611 में अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 48(2) ने 12 साल की अवधि को समान अवधि की और अवधि के लिए बढ़ा दिया है, लेकिन अनुच्छेद 182 का सहारा लेने की आवश्यकता को निरस्त नहीं किया गया है। डिक्रीदार डिक्री को जीवित रखने के लिए कदम उठा रहा होगा और एकमात्र परिस्थिति जो उसे इस दायित्व से मुक्त कर सकती है, वह है परिसीमा अधिनियम की धारा 18 के तहत धोखाधड़ी का अस्तित्व। अपीलार्थी के विद्वान अधिवक्ता ने पूछा कि धोखाधड़ी होने पर उसके लिए निष्पादन में आवेदन करना कैसे संभव हो सकता है और क्या विधि में इस बात पर विचार किया गया है कि भले ही धोखाधड़ी डिक्री के निष्पादन को रोकती है, लेकिन केवल डिक्री को जीवित रखने के लिए उसे हर तीन साल में बेकार या व्यर्थ आवेदन दायर करना पड़ता है। इसका उत्तर सरल है। धोखाधड़ी का अनुरोध किया गया, अर्थात् 'प्रभात' समाचार पत्र के स्वामित्व का दमन, उनसे डिक्री के निष्पादन के आवेदन करने के उनके अधिकार की मांग नहीं करता था।

वास्तव में, दमन, जो 1938 में शुरू हुआ, डिक्रीदार को 1940 में निष्पादन के लिए आवेदन करने से नहीं रोक सका; और जिरह में जवाब देते हुए, उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके ज्ञान में अन्य सम्पत्तियाॅ थी, जिनके खिलाफ वे निष्पादन की मांग कर सकते थे, यथा निर्णित ऋणी के विभिन्न बैंको में जमा पैसा, लेकिन जो उसकी पत्नी या बेटी के नाम पर थे, जीवन बीमा पॉलिसियां, जिनके लिए उसके द्वारा प्रीमियम का भुगतान किया जा रहा था, उसके द्वारा लिखी और प्रकाशित विधि की किताबें, पूना आदि में घर में चल संपत्तियाँ। वास्तव में, अपीलार्थी का वर्तमान आवेदन इनमें से कई संपत्तियों के खिलाफ निष्पादन चाहता है। इसलिए 1940 में अपने पूर्व आवेदन को खारिज करने के 3 साल के भीतर इस तरह के निष्पादन की मांग करने से उन्हें नही रोका। 'प्रभात' के संदर्भ में भी, डिक्रीदार केवल इतना कहता है कि चूंकि उसके पास यह साबित करने के लिए कोई सबूत नहीं था कि संबंधित प्रत्यर्थी का था, इसलिए उसने कोई कदम नहीं उठाया, न कि इसलिये कि उसके पास स्वामित्व का ज्ञान नहीं था। उनके बयान से दो वाक्य उद्धृत करने के लिएः "मुझे संदेह था कि प्रतिवादी संख्या 1 हर समय व्यवसाय का वास्तविक मालिक था, लेकिन मुझे 1946 तक कोई सकारात्मक जानकारी या सूचना नहीं थी।..... "मैं 1946 तक व्यवसाय को कुर्क करने के लिए कोई कदम नहीं उठा सका, क्योंकि तब तक मेरे पास प्रत्यर्थी की धोखाधड़ी को साबित करने के लिए कोई सबूत नहीं था। निर्णितऋणी पर डिक्रीदार को अपनी संपत्तियों के

सभी विवरणों के साथ पत्र भेजने के लिए कोई बाध्यता नहीं है; यह डिक्रीदार का काम है कि वह संपत्तियों के बारे में जानकारी एकत्र करे, ताकि वह अपने डिक्री के फल काे प्राप्त कर सके।

इस साक्ष्य से निपटने में, श्री कृष्णस्वामी अयंगर ने प्रिवी काउंसिल के निर्णय, *रहीमभॉय बनाम टर्नर* 20 आई.ए.1 पर भरोसा किया और पृष्ठ 5 पर लॉर्ड हॉबहाउस के निम्नलिखित अवलोकन का उल्लेख कियाः-

> "लेकिन इनके न्यायमूर्तियो ने विचार किया और इसमें वे नीचे दिए गए दोनों न्यायालयों से सहमत हैं कि अपीलार्थी रहीमभॉय ने यह दिखाने के लिए किया है कि कुछ सुराग और संकेत वर्ष 1881 में समनुदेशिती तक पहुंचे, जिनका शायद, यदि जोरदार और तीव्र रूप से पालन किया जाए, तो धोखाधड़ी की पूरी जानकारी हो सकती थी, लेकिन ऐसा कोई खुलासा समनुदेशिती के मन को सूचित कर नहीं किया गया था, कि रहीमभॉय द्वारा वर्ष 1867 में दिवालिया की संपत्तियों में धोखाधड़ी की गई थी"।

उद्धृत परिच्छेद यहाँ लागू नहीं होता है, क्योंकि अपीलार्थी ज्ञान स्वीकार करता है, जो मात्र संदेह से अधिक है, लेकिन कहता है कि उसके पास प्रत्यर्थी के स्वामित्व को साबित करने के लिये कोई साक्ष्य नहीं था। किसी भी मामले में, यह 18 परिसीमा अधिनियम के अर्थ के भीतर जो

धोखाधड़ी का आरोप लगाया है और स्थापित किया गया है, उनके डिक्री के निष्पादन के अधिकार का ज्ञान उनसे दूर रखा गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपीलार्थी को परिसीमा अधिनियम की धारा 18 का लाभ नहीं मिल सकता है। इसके बाद अपीलार्थी की ओर से तर्क दिया गया कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 (2) के तहत, प्रत्यर्थी की धोखाधड़ी के कारण अपीलार्थी को परिसीमा अधिनियम के लिए एक नया परिसीमा का प्रारंभिक बिंदु मिला और इसलिए निष्पादन के लिए आवेदनों से संबंधित परिसीमा अधिनियम की अनुसूची के तीसरे कॉलम में तारीख जब अपीलार्थी द्वारा धोखाधड़ी का पता चला था, प्रारंभिक बिंदु होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह तर्क दिया गया कि धारा 48 का प्रभाव केवल सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48(2) के उद्देश्य के लिए धोखाधड़ी की खोज से 12 साल की अवधि शुरू करने के लिए नहीं था, बल्कि परिसीमा अधिनियम की अनुसूची के लिए एक नया प्रारंभिक बिंदु देने के लिए भी था। इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को ऋणी की धोखाधड़ी के कारण आवेदन करने से रोका जाता है, तो उसे आवेदन करने के अपने अधिकार को जानने से रोका नहीं जाता है। धारा 18 के अधिनियमन द्वारा, विधानमंडल ने स्पष्ट रूप से विचार किया है कि परिसीमा अधिनियम के लिए प्रारंभिक बिंदु को धोखाधड़ी के आधार पर तभी बदला जाता है, जब आवेदन करने के अधिकार का ज्ञान हो। यह जानते हुए कि उसे आवेदन करने का अधिकार है, यदि निर्णितऋणी

डिक्रीदार को कुछ संपत्तियों के अस्तित्व को जानने से रोकता है, जिनके खिलाफ डिक्री को लागू किया जा सकता है, तो मामला स्पष्ट रूप से परिसीमा अधिनियम की धारा 18 के शब्दों द्वारा कवर नहीं किया जाता है, इसलिए अपीलार्थी की ओर से प्रस्तुत यह तर्क असंतोषप्रद्र है।

यह आग्रह किया गया कि परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 182 के तीसरे स्तंभ में उल्लिखित विभिन्न प्रारंभिक बिंदु लागू नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें से कोई भी निर्णितऋणी की धोखाधड़ी के आधार पर अर्जित निष्पादन के लिए एक नए प्रारंभिक बिंदु को निर्दिष्ट नहीं करता है। यह तर्क, हमारी राय में, अपीलार्थी की मदद करने के बजाय, उसके खिलाफ जाता है। डिक्री के निष्पादन से संबंधित अनुच्छेद के तीसरे कॉलम में ऐसा प्रावधान आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसी आकस्मिकता के लिए प्रावधान धारा 18 में किया गया है। सकारात्मक रूप से, परिसीमा अधिनियम में धारा 18 को शामिल करके और नकारात्मक रूप से अनुच्छेदो के तीसरे कॉलम में निर्णय की धोखाधड़ी के मामले में परिसीमा की एक अलग अवधि का प्रावधान नहीं करते हुए विधानमंडल ने स्पष्ट रूप से संकेत दिया है कि जब तक डिक्रीदार द्वारा निर्णितऋणी की धोखाधड़ी के आधार पर धारा 18 के तहत लाभ नहीं उठाया जाता है, धोखाधड़ी परिसीमा अधिनियम के तहत कोई अन्य राहत नहीं देता है। यह योजना विधानमंडल की धारा 48 सिविल प्रक्रिया संहिता के साथ असंगत नहीं है। दोनों अधिनियमों के दो प्रावधानों को एक ही विषय से संबंधित के रूप में पढ़ा

जाना चाहिए, लेकिन दो अलग-अलग पहलुओं से निपटना चाहिये। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48 के बिना एक डिक्रीदार यदि उसने अनुच्छेद 181 या 182 परिसीमा अधिनियम द्वारा आवश्यकतानुसार आवेदन कर अपनी डिक्री को अनिश्चित काल के लिए जीवित रख सकता था। विधानमंडल ने नीतिगत मामले में फैसला सुनाया कि एक दीवानी अदालत की एक डिक्री (लेकिन उच्च न्यायालय की डिक्री के सिवाय) 12 वर्ष से अधिक लागू नही रह सकती है, हालांकि डिक्री को जीवित और प्रभावी रखने के लिए परिसीमा अधिनियम के तहत सभी आवश्यक कदम लिये गये। यह अदालत की डिक्री को लागू करने के लिए डिक्रीधारक के अधिकार की एक सीमा है। उसके अधिकार की दूसरी सीमा, जो पहले से स्वतंत्र है, का अर्थ यह है कि उसे यथास्थिति, अनुच्छेद 182 या 181 के अधीन डिक्री को जीवित रखना चाहिए। निर्णयऋृणी की धोखाधड़ी के मामले में धारा 48(2) में 12 वर्ष की अवधि को बढ़ाने के लिए धारा 48 के अधीन विहित प्रावधान किया गया है। परिसीमा अधिनियम के तहत परिसीमा के वर्जन के अभिवाक को पराजित करने के लिए निर्णित ऋृणी की धोखाधड़ी के मामले में परिसीमा अधिनियम की धारा 18 में प्रावधान पाया जाता है। अगर स्थापित और साबित धोखाधड़ी का विशेष मामला उन शब्दों से कवर नहीं है, तो परिसीमा अधिनियम में भी इसके खिलाफ कोई सुरक्षा नहीं है। इस तरह से पढ़ें, दो विधायी प्रावधान न तो परस्पर विरोधी हैं और न ही अतिव्यापी; और वे संचालन करने में सामंजस्यपूर्ण रूप से सक्षम हैं,

क्योंकि वे विभिन्न स्थितियों और परिस्थितियाँ से निपटते हैं। अपीलार्थी पक्ष की ओर से तर्क दिया गया कि धोखाधड़ी के कारण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 48(2) में केवल निर्धारित 12 वर्ष की अवधि की गणना के लिए एक नया प्रारंभिक बिंदु उसे नहीं मिला, लेकिन परिसीमा अधिनियम के तहत इसके समय विस्तार का भी हकदार है, इसलिए होना चाहिए वरना असफल हो जाते हैं।

अपीलार्थी की ओर से दूसरा आग्रह किया गया कि क्योंकि अनुच्छेद 182 के तीसरे कॉलम में धोखाधड़ी का उल्लेख नहीं है, मामला अनुच्छेद 181 के द्वारा कवर होता हे, उचित नही है। अनुच्छेद 182 में तीसरे काॅलम में विभिन्न निर्दिष्ट परिस्थितियों में परिसीमा का प्रारंभिक बिंदु निर्धारित किया गया है। ऐसा नही होता है और न ही वास्तव में धोखाधड़ी के आधारो का उल्लेख करने की आवश्यकता है कि क्योंकि अगर उस तरह की धोखाधड़ी, जिसके खिलाफ परिसीमा अधिनियम की धारा 18 में अनुतोष बताया गया है, स्थापित किया गया है, समय उस खंड के संचालन द्वारा स्वचालित रूप से परिवर्तित हो जाता है। अगर मामला उस धारा के तहत नहीं आता है, परिसीमा अधिनियम के तहत कोई राहत अनुज्ञेय नहीं है एवं काल की गणना करने में प्रारम्भिक बिन्दु तृतीय काॅलम में बताये अनुसार होगा, चाहे प्रश्न धोखे का हो। हमारी राय में, इसलिए, यह तर्क कि वर्तमान मामले में स्थापित धोखाधड़ी के कारण सिविल प्रक्रिया संहिता

की धारा 48(2) के तहत, अपीलार्थी को परिसीमा का एक नया प्रारंभिक बिंदु मिलता है, परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 182 अस्वीकार्य है।

अपीलार्थी न्यायशास्त्र के सामान्य सिद्धांत पर निर्भर था कि धोखाधड़ी समय और विवेक के संचालन को रोकता है या निलंबित कर देता है और यह परिसीमा अधिनियम की धारा 18 से पृथक उसके पक्ष में लागू किया जाना चाहिए। साम्या के नियम का कोई प्रभाव नहीं है। जहाँ आधारों को निर्दिष्ट करने वाले वैधानिक प्रावधान निश्चित हैं, जिसके आधार मात्र पर चल रहे समय की रोक या निलंबन उत्पन्न हो सकता है, जबकि अदालतें अनिवार्य रूप से जाँच करने या धोखाधड़ी से लड़ने में चतुर हैं, इसे समान रूप से ध्यान में रखा जाए कि परिसीमा के क़ानून विश्राम की विधियाँ हैं।

ऊपर दिए गए कारणों से हम उच्च न्यायालय द्वारा पहुँचे गये निष्कर्ष से सहमत हैं। और खर्चो सहित अपील खारिज की जाती है।

याचिका खारिज कर दी गई।

अपीलार्थी के लिए अभिकर्ताः के. जे. काले।

प्रत्यर्थी के लिए अभिकर्ताः गणपत राय।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायता से अनुवादक न्यायिक अधिकारी श्री अरुण प्रकाश आर्य (आर.जे.एस.) द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण: यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा ।